RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17, अंक-4, सितम्बर अक्टूबर नवम्बर 2024

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17 | अंक - 4 | सितम्बर-अक्टूबर-नवम्बर-2024

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक

कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** – पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** – प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** – प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** – पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** – पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** – सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंधा अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** – पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** – आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** – पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

तुलसी के सामाजिक चिंतन का प्रभावी चित्रण

अनिता मालिया

सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)

हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

तुलसीदास ने धर्म को केवल धार्मिक अनुष्ठान, पूजा-पाठ या कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं माना। उनके दृष्टिकोण में धर्म मानव जीवन का मूल आधार और नैतिक-मूल्य प्रणाली है, जो व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को नियंत्रित और मार्गदर्शित करती है। आज के समाज में जहां भौतिक सुख-सुविधाओं का अत्यधिक मोह व्याप्त है, व्यक्ति नैतिक और सामाजिक जिम्मेदारियों से विमुख हो गया है। इसका परिणाम समाज में भ्रष्टाचार, छल-कपट, स्वार्थ, अहंकार, अनुशासनहीनता, बड़ों का अपमान और कार्य-संस्कृति तथा दायित्वबोध के अभाव के रूप में दिखाई देता है।

तुलसीदास का चिंतन स्पष्ट करता है कि धर्म केवल मंदिर जाकर पूजा करने या कर्मकाण्ड निभाने तक सीमित नहीं है। वास्तव में धर्म का सार नैतिक पवित्रता, सामाजिक प्रेम, सत्यनिष्ठा, दायित्वबोध और समाज के कल्याण में निहित है। उन्होंने यह दिखाया कि धर्म व्यक्ति को संपूर्णता, शांति और निश्रेयस की ओर ले जाता है। जब व्यक्ति धर्म के मूल भाव—सत्य, नैतिकता, पवित्रता, प्रेम और दायित्वबोध—को समझकर अपनाता है, तब उसका जीवन और समाज दोनों गरिमामय, संतुलित और समृद्ध बनते हैं।

तुलसीदास यह भी स्पष्ट करते हैं कि धर्म किसी संप्रदाय, मत या विचारधारा तक सीमित नहीं है। यह एक ऐसा गुण है जो मनुष्य को नैतिक और सामाजिक जिम्मेदारियों के प्रति सजग करता है, और उसे उच्च मानव मूल्यों की ओर अग्रसर करता है। यदि आज के मनुष्य ने धर्म की सच्ची चेतना को समझा और अपने जीवन में अपनाया होता, तो भारतीय समाज की वर्तमान दुर्दशा—भ्रष्टाचार, नैतिक पतन और सामाजिक विसंगतियों—को रोका जा सकता था।

तुलसीदास के सामाजिक और धार्मिक चिंतन को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि 'धर्म' की भारतीय परंपरा में उत्पत्ति और विकास वैदिक काल से ही हुआ। वैदिक संहिताओं में धर्म के साथ ऋत, ब्रह्मन्, व्रत और सव जैसे पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद में धर्म का अर्थ 'धारण करने वाला' या नियामक सिद्धांत लिया गया है। ऋत का अर्थ है नियम या सीधी रेखा, ब्रह्मन् का अर्थ है बढ़ना या व्यापक होना, व्रत का अर्थ है अपना कार्य घेरे रखना या पसंद करना, और सव का अर्थ है उत्पन्न करना। इन मूलार्थों से यह स्पष्ट होता है कि धर्म केवल व्यक्तिगत आचरण तक सीमित नहीं, बल्कि समाज और लोकहित के लिए एक व्यापक, समग्र और संवर्धनशील मूल्य है।

श्री मोहनलाल 'महतो' वियोगी ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा कि धर्म एक सीधी, सम्पूर्ण और संवर्धनशील शक्ति है, जो सबको घेरे हुए है और सभी के लिए लाभकारी है। यही कारण है कि भारतीय धर्म न किसी व्यक्ति के मत तक सीमित है और न किसी एक ग्रंथ तक। वैदिक काल से धर्म का उद्देश्य लोक-

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

प्रकाशन, मानव कल्याण और नैतिक-सदाचरण के प्रचार में निहित रहा। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से उल्लेख है–

'धर्मणा आत्मीयेनं लोक प्रकाशनादि लक्षणेन कर्मणा' (ऋग्वेद 10/65/5)

'धर्माणि देवानां मनुष्याणां च हितानि कर्माणि' (ऋग्वेद 9/64/1)

अर्थात धर्म न केवल व्यक्ति और समाज के हित का मार्गदर्शन करता है, बल्कि यह कालांतर में और अधिक गंभीर, सबल और परिष्कृत होता गया।

बृहदारण्यक उपनिषद् (1/4/14) में धर्म और सत्य का घनिष्ठ संबंध स्पष्ट किया गया है: धर्म की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है, यह सबका नियामक और सबसे श्रेष्ठ है, और सत्य ही धर्म है। इस दृष्टि से, धर्ममय आचरण और सत्यवचन दोनों ही एक ही आदर्श का पालन करते हैं। तुलसीदास के चिंतन में यही मूल विचार दिखाई देता है–धर्म केवल आध्यात्मिकता या उपासना तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक नैतिकता, प्रेम, दायित्वबोध और लोकहित की प्रधान शक्ति है।

तुलसीदास के सामाजिक और धार्मिक चिंतन में धर्म का विवेचन अत्यंत गहन और समग्र है। उनके अनुसार धर्म केवल बाह्य अनुष्ठानों, कर्मकाण्ड या पंथों के अनुकरण तक सीमित नहीं है; यह जीवन की आचार-संहिता, नैतिक मूल्यों और समाज कल्याण का मार्गदर्शक है। भारतीय धर्मग्रंथों–धर्मशास्त्रों, पुराणों, रामायण, महाभारत और गीता–में धर्म का उद्देश्य स्पष्ट रूप से मनुष्य के कर्म और कृत्यों को व्यवस्थित करना, उसे नैतिक और सामाजिक जिम्मेदारियों से जोड़ना और लोकहित में प्रवृत्त करना बताया गया है।

मनुस्मृति के अनुसार धर्म के दस लक्षण–धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धीर, विद्या, सत्य और अक्रोध व्यक्तिगत आचरण का अभिन्न अंग हैं। ये केवल नियम या कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि गुणात्मक अवस्थाएँ हैं, जो व्यक्ति को अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्ति में सक्षम बनाती हैं। वैशेषिक दर्शन में धर्म को उस साधन के रूप में परिभाषित किया गया है जिससे मानव का उत्थान और कल्याण संभव हो।

उपनयन संस्कार के समय बालक द्वारा की गई प्रार्थना (मंत्र ब्राह्मण 1/6/9) यह स्पष्ट करती है कि धर्म का उद्देश्य केवल बाह्य अनुष्ठान नहीं, बल्कि सत्य और उज्ज्वल मार्ग की ओर अग्रसर होना, आत्मिक शुद्धि और नैतिक चेतना का विकास है। यह दर्शाता है कि भारतीय ऋषियों का दृष्टिकोण धर्म के बाह्य पहलुओं में उलझने की बजाय आंतरिक चेतना, आत्मा के उत्थान और उदात्त जीवन मूल्यों के संवर्धन पर केंद्रित रहा। धर्म का यह दृष्टिकोण गतिशील और विकासशील रहा, जिसका आधार मानव-कल्याण और समाज के हित में था।

तुलसीदास के समय धर्म की वास्तविक चेतना में भारी विचलन दिखाई देता है। समाज में बाह्याचार और दंभ के कारण धर्म के आंतरिक मूल्य विलुप्त होने लगे थे। विभिन्न पंथों का प्रचलन केवल बाह्य नियमों और व्यक्तिगत मतों के आधार पर हुआ, जिससे अनुशासनहीनता, भ्रष्टाचार, स्वार्थ और भौतिक सुख की लालसा बढ़ी। तुलसीदास ने इस स्थिति की व्यथा रामचरितमानस में स्पष्ट रूप से व्यक्त की है:

'कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।

भए लोग सब मोहबस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि कहउँ कछुक कलिधर्म।' (रामचरितमानस 7/97)

इसका तात्पर्य यह है कि मोह-लोभ और बाह्य दंभ के प्रभाव से धर्म के मूल तत्व लुप्त हो गए, और समाज में नैतिक पतन, अनुशासनहीनता और भ्रष्ट आचरण व्याप्त हो गया। तुलसीदास का दृष्टिकोण स्पष्ट है: धर्म का सच्चा पालन केवल बाह्य कर्मों में नहीं, बल्कि आंतरिक नैतिकता, सत्य, प्रेम, दायित्वबोध और समाज कल्याण में निहित है।

तुलसीदास के सामाजिक और धार्मिक चिंतन में धर्म का महत्व अत्यंत गहन और सर्वव्यापक है। उन्होंने देखा कि जब समाज में धर्म के आचरण और नैतिक मूल्यों की उपेक्षा होती है, तब समाज में हिंसा, अन्याय, चोरी, जुआरी, स्त्रियों और धन का अपहरण, माता-पिता और गुरुजनों का अपमान तथा गुणी और सज्जन व्यक्तियों को निरर्थक कार्यों में लगाया जाना आम बात हो जाती है। रामचरितमानस में तुलसीदास ने इसे स्पष्ट रूप से चित्रित किया है:

'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला, सो सब करहिं बेद प्रतिकूला।
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति।
बाढ़े खल बहु चोर जुआरा, जे लंपट परधन परदारा।
साधुन्छ सन करवावहिं सेवा। मानहिं मातु पिता नहि देवा।' (रामचरितमानस 1/183, 184)

इसका तात्पर्य यह है कि धर्म के आचरण और पालन का अभाव समाज में अनैतिकता, भ्रष्टाचार और अनुशासनहीनता को जन्म देता है। तुलसीदास ने इस समस्या का समाधान भारतीय धर्म के व्यापक और समग्र स्वरूप में खोजा, जो 'नानापुराण, निगम, आगम सम्मत' है। उन्होंने धर्म के सारतत्त्व को ग्रहण कर उसे अपने संपूर्ण काव्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया कि यह मानव जीवन के लिए उतना ही आवश्यक हो, जितना जीवन के लिए प्राण। इसी दृष्टि से तुलसी ने धर्म को मानव जीवन का प्राण कहा।

तुलसी की धर्म-दृष्टि केवल कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं, बल्कि दार्शनिक, योगात्मक और आध्यात्मिक बिंदुओं से परिपूर्ण है। उनका यह संदेश स्पष्ट करता है कि धर्म का पालन न केवल व्यक्तिगत नैतिकता का साधन है, बल्कि समाज के कल्याण, अनुशासन और समग्र विकास के लिए अनिवार्य आधार भी है। जब धर्म का पालन होता है, तो समाज में शांति, न्याय और सदाचार का वातावरण बनता है; और जब धर्म की उपेक्षा होती है, तो अराजकता, हिंसा और अनुचित व्यवहार बढ़ते हैं।

तुलसीदास के सामाजिक और धार्मिक चिंतन में धर्म का सर्वोच्च तत्त्व 'परहित' यानी दूसरों के कल्याण की भावना है। उन्होंने अपने काव्य महाकाव्य रामचरितमानस में धर्म की संपूर्ण परिभाषा देते हुए यह स्पष्ट किया कि जो धर्म केवल व्यक्तिगत लाभ या स्वार्थ के लिए किया जाता है, वह वास्तविक धर्म नहीं है। उनका मत है कि परम धर्म वही है जो परोपकार और परहित की भावना से संचालित हो।

तुलसीदास स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्ति दूसरों को कष्ट पहुँचाता है या मोह और स्वार्थ के वशीभूत होकर अनैतिक आचरण करता है, वह पाप करता है और अपने लोक-परलोक का नाश करता है:

'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।

निर्णय सकल पुरान बेद कर, कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर।
नर सरीर धरि जे पर पीरा, करहिं ते सहहिं महा भव भीरा।
करहिं मोह बस नर अघ नाना, स्वारथ रत परलोक नसाना।' (रामचरितमानस 7/41)

यहाँ तुलसीदास यह दर्शाते हैं कि परहित के बिना किया गया कर्म धर्मसिद्ध नहीं माना जा सकता। वही परहितपूर्ण कर्म मानव को वास्तविक धर्म की अनुभूति कराता है और उसके जीवन को उच्च आदर्शों से जोड़ता है।

उदाहरण के लिए, जब देवता कामदेव को भगवान शंकर की समाधि भंग करने के लिए प्रेरित करते हैं, तब भी वह जानते हैं कि इस कार्य में उन्हें शंकर की क्रोधाग्नि सहन करनी पड़ेगी। फिर भी वे इसे परोपकार और धर्म के लिए स्वीकार करते हैं:

'सुरन्हि कही निज बिपति सब सुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु बिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार।
तदपि करब मैं काज तुम्हारा, श्रुति कह पर धरम उपकारा।
पर हित लागि तजइ जो देही, संतत संत प्रसंसहिं तेही।' (रामचरितमानस 1/83, 84)

तुलसीदास यह भी बताते हैं कि जिनके हृदय में परहित की भावना स्थायी रूप से निहित रहती है, उनके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इसी भावना के आधार पर राम ने रावण के विरुद्ध युद्ध में आत्म-बलिदान देने वाले जटायु की प्रशंसा की:

'परहित बस जिन्ह के मन माहीं, तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।' (रामचरितमानस 3/31)

तुलसीदास के दृष्टिकोण में धर्म केवल बाह्य अनुष्ठान या कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं है, बल्कि इसके पालन के लिए आंतरिक गुण और नैतिक चेतना का होना अनिवार्य है। उन्होंने 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' में स्पष्ट किया कि धर्म का मूल सार 'परोपकार' है। धार्मिक व्यक्ति का जीवन तभी सच्चा और सार्थक है जब वह दूसरों के हित और भलाई के लिए कार्य करता है। तुलसीदास इसके साथ-साथ सम, दम, दया, दीन-पालन, सत्य और श्रद्धा जैसे गुणों को धर्म के अनुपालनीय लक्षण मानते हैं।

उदाहरण स्वरूप, विनयपत्रिका में तुलसीदास कहते हैं:

'काजु कहा नरतनु धरि सार्यो। पर उपकार सार श्रुतिको जो,
सो धोखेहु न बिचार्यो। सम, दम, दया, दीन-पालन, सीतल हिय हरि न संभार्यो।
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसार्यो।
तुलसिदास यहि आस, सरन राखिहि जेहिं गीध उधार्यो।' (विनयपत्रिका 202)

यहां तुलसीदास स्पष्ट करते हैं कि परहित और इन नैतिक गुणों के बिना धर्म का पालन अधूरा है। उन्होंने धर्म के अन्य लक्षणों—सत्य, अहिंसा, अक्रोध और श्रद्धा—को भी प्रमुख माना। रामचरितमानस में दशरथ के सचिव सुमंत्र के संवाद के माध्यम से राम सत्यपालन को सर्वोच्च धर्म बताते हैं:

'धरमु न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुरान बखाना।
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा, तजें तिहूँ पुर अपजसु छावा।' (रामचरितमानस 2/95)

तुलसीदास ने धर्मपालन करने वाले महान राजा और ऋषियों का उदाहरण देते हुए यह भी स्पष्ट किया कि धर्म का पालन कठिनाइयों और संकटों के बावजूद किया जाना चाहिए। उन्होंने शिवि, हरिश्चंद्र, रंतिदेव और दधिचि जैसे पात्रों का उल्लेख किया, जिन्होंने सत्य और धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दी:

'सिबि दधीच हरिचंद नरेसा, सहे धरमु हित कोटि कलेसा।
रंतिदेव बलि भूप सुजाना, धरमु धरेउ सहि संकट नाना।' (रामचरितमानस 2/95)

तुलसीदास ने अहिंसा को धर्म का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व माना और परनिंदा को सबसे बड़ा पाप बताया:

'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा, पर निंदा सम अघ न गरीसा।' (रामचरितमानस 7/121)

वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि धर्म के लिए कभी भी क्रोध और हिंसा का मार्ग नहीं अपनाना चाहिए। उदाहरण के तौर पर, राम ने बालि का वध अवश्य किया, लेकिन इसे धर्म की सिद्धि के लिए आवश्यक कार्य मानते हुए खुद को किसी हिंसाप्रवृत्ति के अधीन नहीं किया:

'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं, मारेहु मोहि ब्याध की नाईं।' (रामचरितमानस 4/9)

दयाभाव या करुणा को तुलसीदास धर्म के अनुपालन के लिए अनिवार्य मानते हैं। काकभुशुंडी के मुख से गरुड़ के प्रति कहा गया है:

'अघ कि पिसुनता सम कछु आना, धर्म कि दया सरिस हरिजाना।' (रामचरितमानस 7/112)

साथ ही तुलसीदास स्पष्ट करते हैं कि क्रोध धर्म से दूर करता है:

'करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी।'

तुलसीदास के धर्म-दर्शन में 'धर्मरथ' की संकल्पना उनके विचारों का सर्वोत्कृष्ट रूप है, जो धर्म को केवल आचार-संहिता या कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं रखता, बल्कि उसे मानव जीवन और समाज की उच्चतम विजय का साधन मानता है। तुलसी ने मनु के दस लक्षणात्मक धर्म—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धीर, विद्या, सत्य और अक्रोध—का परीक्षण कर दिखाया कि ये गुण मानव जीवन के लिए अनिवार्य हैं। राम-रावण युद्ध के समय उनका विवेचन इस दृष्टि का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है, जहाँ उन्होंने धर्म के आंतरिक और बाह्य गुणों के माध्यम से विजय की सिद्धि दिखाई।

तुलसीदास बताते हैं कि आज का मनुष्य भौतिक साधनों के अंबार में उलझकर अशांत और अधर्मी बन गया है। जब अर्थ और काम का पालन धर्म के नियमन के बिना किया जाता है, तो यह अहंकार और पिशाचवत प्रवृत्तियों का कारण बनता है। रामचरितमानस में विभीषण की शंका—रावण के रथ और राम के पैदल होने पर—यही दर्शाती है:

'रावनु रथी बिरथ रघुबीरा, देखि बिभीषन भयउ अधीरा।
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना, केहि बिधि जितब बीर बलवाना।' (रामचरितमानस 6/80)

इसका उत्तर तुलसीदास की धर्मरथ की संकल्पना में निहित है, जो भौतिक शक्ति से अधिक नैतिक, आध्यात्मिक और गुणों के बल पर विजय सुनिश्चित करती है:

'सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका,
बल बिबेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा, एहिं सम बिजय उपाय न दूजा।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें, जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।' (रामचरितमानस 6/80)

तुलसीदास के अनुसार, धर्मरथ में शौर्य और धैर्य पहिये हैं; 'सत्य और शील पताका; बल, विवेक, संयम और परोपकार' चार घोड़े हैं, जो 'क्षमा, दया और समता' की डोरी से बंधे हैं। ईश्वर भजन सारथी, वैराग्य ढाल, संतोष तलवार, दान फरसा, बुद्धि प्रचंड शक्ति, श्रेष्ठ विज्ञान सशक्त धनुष, निष्पाप और स्थिर मन तरकस, और सम, दम, यम, नियम बाण हैं। गुरु और बिप्र की पूजा कवच हैं।

इस संकल्पना के अनुसार, जिस व्यक्ति या समाज में ये धर्म-गुण प्रतिष्ठित हों, उसे कोई पराजित नहीं कर सकता। तुलसीदास यह स्पष्ट करते हैं कि जीवन के युद्ध में भौतिक साधनों की विजय नहीं होती, बल्कि आध्यात्मिक, नैतिक और धर्मनिष्ठ गुणों से सम्पन्न जीवन ही अंतिम विजय प्राप्त करता है।

तुलसीदास के धर्म-दर्शन में 'विज्ञान-दीपक' और धर्म का आध्यात्मिक मूल्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि मुक्ति और उच्चतर जीवन के मार्ग की रोशनी केवल बाह्य साधनों या कर्मकाण्ड से नहीं मिलती, बल्कि यह आध्यात्मिक गुणों और नैतिक चेतना से उत्पन्न होती है। रामचरितमानस में तुलसी ने इसका प्रतीकात्मक रूप प्रस्तुत किया: विज्ञान-दीपक वह दीपक है जो धर्ममय 'दूध' से निकले घृत से प्रज्वलित होता है, और इस घृत के निर्माण में संतोष, क्षमा, धैर्य, धृति और समता जैसे मूल्य सहायक होते हैं:

'परम धर्ममय पय दुहि भाई, अवटै अनल अकाम बनाई।
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै, धृति सम जावनु देइ जमावै।' (रामचरितमानस 7/117)

तुलसी का धर्म केवल आत्मिक शुद्धि और मोक्ष के लिए नहीं, बल्कि लोक की सुख-समृद्धि और मानव कल्याण के लिए भी है। रावण वध के उपरांत भगवान राम के प्रचंड प्रताप सूर्य का उदय धर्मसरोवर में सुख, संतोष, वैराग्य और विवेक रूपी चक्वों को उजागर करता है, जो मानव आत्मा का परिष्कार कर उसे मुक्ति तक ले जाते हैं:

'धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना, ए पंकज बिकसे बिधि नाना।
सुख संतोष बिराग बिबेका यह प्रताप रबि जाकें उर जब
बिगत सोक ए कोक अनेका। करइ प्रकास।
पिछले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास।' (रामचरितमानस 7/31)

तुलसीदास धर्म को जीवन के सर्वोत्कृष्ट साधन और जीवन-दर्शन का प्रखरतम सोपान मानते हैं। वे बार-बार यह शिक्षा देते हैं कि धर्म का पालन केवल बाह्य अनुष्ठानों या कर्मकाण्डों तक सीमित नहीं होना चाहिए; उसका मूल आधार राम के प्रति आस्था, सद्गुण, धैर्य और नैतिकता है:

'मुदित मानि आयसु चले बन मातु-पिताको।
धरम-धुरंधर धीरधुर गुन-सील-जीता को ?

गुह गरीब गतग्याति हू जेहि जिउ भखा को।
पायो पावन प्रेम तें सनमान सखाको।' (विनयपत्रिका 152)

तुलसीदास का धर्म-दर्शन व्यापक और समग्र है। उन्होंने भारतीय धर्म के मूल तत्व—आध्यात्मिकता, नैतिकता, सामाजिक उत्तरदायित्व और परहित—को अपनाया और इसे उदात्त जीवन मूल्यों का उत्प्रेरक और साधन माना। बाह्याचार और कर्मकाण्ड केवल तभी मूल्यवान हैं जब वे व्यक्ति के आचरण को परिष्कृत करें। तुलसी का मत है कि आत्मा की पवित्रता और धर्म का पालन राम-भक्ति से संभव है, और यही अभ्युदय और नि:श्रेयस की सिद्धि का मार्ग है:

'पावन प्रेम राम-चरन-कमल जनम लाहु परम।
रामनाम लेत होत, सुलभ सकल धरम।
जोग, मख, बिबेक, बिरत, बेद-बिदित करम द्य करिबे
कहँ कटु कठोर, सुनत, मधुर, नरम।' (विनयपत्रिका 131)

इस प्रकार तुलसीदास का धर्म-दर्शन न केवल नैतिक और सामाजिक अनुशासन का मार्गदर्शन करता है, बल्कि आध्यात्मिक प्रगति, लोककल्याण और मानवता के उच्चतम सिद्धांतों का अनुकरण भी सुनिश्चित करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *तुलसीदास, रामचरितमानस, सम्पादक : हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत 2008 / ई. संस्करण 1951*
2. *तुलसीदास, विनयपत्रिका, सम्पादक : हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1960*
3. *मनु, मनुस्मृति, अनुवादक एवं टीकाकार : डॉ. रामगोविंद त्रिवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1996*
4. *वेदव्यास, महाभारत, सम्पादक : रामनारायणदत्त शास्त्री, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1958*
5. *वेदव्यास, श्रीमद्भगवद्गीता, भाष्यकार : शंकराचार्य, स्वामी चिन्मयानंद, चिन्मय मिशन, मुम्बई, 2003*
6. *ऋग्वेद, सायण भाष्य सहित, सम्पादक : पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, वेद निकेतन, हरिद्वार, 1985*
7. *बृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य सहित, सम्पादक : स्वामी माधवानंद, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 1972*
8. *वैशेषिक दर्शन, सूत्रकार : कणाद, व्याख्याकार : श्रीधराचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1994*
9. *मोहनलाल 'महतो' वियोगी, आर्य जीवन दर्शन, साहित्य सदन, प्रयागराज, संस्करण : 1978*
10. *डॉ. विश्वंभरदयाल अवस्थी, धर्म और दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982*
11. *डॉ. रामविलास शर्मा, तुलसीदास और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972*
12. *डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967*
13. *डॉ. नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1984*
14. *गीता प्रेस, कल्याण (तुलसीदास विशेषांक), गोरखपुर, संस्करण : 1974*